शिक्षा-षण्णवतिः कर्तव्य-षट्त्रिंशिका च

शिक्षा-षण्णवतिः कर्तव्य-षट्त्रिंशिका च

रचयिता
श्री तुलसीरामाचार्य्याः

अनुवादक
मुनि बुधमल

प्रकाशक
साहित्य विभाग,
आदर्श-साहित्य संघ
सरदारशहर (राजस्थान)

आत्म-दर्शनमाला

१ अप्रैल, १९५१
प्रथम संस्करण २०००

मुद्रक
मदनकुमार मेहता
रेफिल आर्ट प्रेस
(आदर्श-साहित्य-संघ द्वारा संचालि
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट
कलकत्ता।

प्राक्-कथन

शिक्षा षण्णवति और कर्तव्य-षट् त्रिंशिका ये दोनों [illegible] प्रवर श्री तुलसीकी लघुकाय किन्तु उपयोगी कृतियां हैं। [illegible] श्लोक संख्या उनके नामसे ही प्रकट है। [illegible] स्तोत्र भक्तामरकी समस्यापूर्त्ति है। रचनाका [illegible] श्लोकमें स्पष्ट किया गया है। इनकी रचना [illegible] ज्ञान-वृद्धि नहीं किन्तु मानस विशुद्धि है। [illegible] अपने आप बढ़ेगा ही। आत्म विकासके [illegible] और उसके नियमोपनियम अहिंसा, [illegible] अपरिग्रहका सुन्दर और हृदयग्राही वि[illegible] चय सुभगाय शिवाय म स्या जैसी [illegible] हृदयका प्रतिबिम्ब और आत्माका [illegible] है।

कर्तव्य षट् त्रिंशिकाके भाव तो [illegible] वेधी हैं। मैं नहीं चाहता कि इन [illegible]

तुलासे तोलू । मैं नहीं चाहता कि दर्शनकी युक्तियोंसे इन्हें परखूं। मैं चाहता हूं कि—

कवचेनापश्मन निश्चित वाग् विडम्बना

जैसी उक्तियोंको हृदयमें उतारूं । इनके शिक्षा-वाक्यों द्वारा आत्म शोधन करूं । 'सर्वो वन्दा धम रत्ता जयति'—यथार्थ दृष्टिकोण द्वारा यथार्थका प्रतिपादन एक यथार्थवादीके लिये जितना उल्लासवर्धक होता है, उतना उल्लास उसके लिये अन्य किसी कलाम नहीं होता। यह इनकी विशेषता है कि निश्रेयसके साथ-साथ अभ्युदयकी कड़ी जुड़ी हुई है। धर्म और आत्म शोधनकी शिक्षाके साथ साथ साहित्य रसास्वादन भी अपने आप हो जाता है।

जैन शासनकी विनयमूल प्रणालीका पद्द्विंशिकामें सुन्दर चित्र है। विनयकी यथार्थता न समझनेवालेको स्यात् वह अतिरञ्जन सा लगे किन्तु तत्वतः स्थिति वैसी नहीं है। आत्म साधक के लिए नम्र होना अत्यावश्यक है। गुरु और शिष्यके बीच स्वार्थ संघर्ष नहीं होता। वहां आत्मार्पणकी वृत्ति होती है। शिष्य अपनी स्वतन्त्रताको सुरक्षित रखनेके लिए अपनी समस्त वृत्तियोंको गुरु चरणों में अर्पित करता है। यह स्वेच्छा चरित वृत्ति न परतन्त्रता है और न गुलामी। किन्तु विनेता और विनयका जीवनका सुन्दर सम्बन्ध है। यह आत्म साधनाकी दशामें ही पल्लवित हो सकता है। भगवान महावीरकी वाणीमें इसका मार्मिक और विशद विवेचन है। दशवैकालिकका नौवां

और उत्तराध्ययनका पहला अध्ययन द्रष्टव्य है। इनमें स्तब्ध और नम्र व्यक्तिकी जीवन कृतियों का बड़ा सूक्ष्म और तलस्पर्शी विश्लेषण है। 'एवं धम्मस्स विणओ मूलं' की साधक-बाधक प्रवृत्तियों पर दृष्टि डालते डालते शास्त्रकार उसे आत्म नियन्त्रणकी भूमिका तक पहुंचा देते हैं। फलतः विनयका अर्थ होता है— आत्म विजय। आत्म साधकका जो परम और चरम लक्ष्य है। इन दोनोंका अनुवाद मुनि श्री बुद्धमलजीने किया है। अनुवाद सरल और सुबोध है। पाठकोंकी सुविधाके लिए यह भावात्मक किया गया है। मुझे विश्वास है कि इसके द्वारा प्राकृत न जानने वाले भी मूल तत्त्वों के हृदय तक पहुंच सकेंगे।

सं० २००७
श्रावण शुक्ला ३
हांसी (पूर्वी पंजाब)

मुनि नथमल

प्रकाशकीय—

आजके लोक-परिवर्तित युगमें ऐसे साहित्यकी आवश्यकता है, जो आध्यात्मिक विश्वासके साथ जनगणमें चरित्र-बल जागृत कर सके और समस्त मानवताका पथ प्रदर्शन कर नैतिकताका सञ्चार कर सके। इस दिशामें अपने सृजनात्मक लक्ष्यको लेकर 'आदर्श साहित्य संघ' विभिन्न मालाओंके रूपमें सुव्यवस्थित प्रकाशन करता रहा है और आज भी सतत् प्रयत्नशील है।

'शिक्षा षण्णवति एवं कर्तव्य षट्त्रिंशिका' यह आध्यात्मिक क्रान्तिके जननायक आचार्य श्री तुलसीकी अनुपम रचना है। केवल रचना मात्र नहीं, वरन् आध्यात्मिक जीवनसे ओत प्रोत आत्मानुभूतिकी एक सुन्दर कृति है, जिसके अवलोकन मात्रसे आत्म सुखकी एक अज्ञात भावना प्रवाहित हो उठती है। मूल भाषाके साथ हिन्दीका अनुवाद साथमें हो जानेसे पुस्तक और भी उपयोगी बन गई है।

'आत्म दर्शन माला' के अन्तर्गत एक महान् आत्मदर्शीकी आत्मासे उद्बोधित प्रस्तुत ज्ञान राशिका प्रकाशन पाठकोंके समक्ष रखते हुए हमें अत्यन्त आत्म गौरवका अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत प्रकाशनमें कोई त्रुटि रह गई हो तो, हम उसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं।

—प्रकाशन मंत्री

शिक्षा षण्णवति व कर्तव्य षट्त्रिंशिका 'आत्म शिक्षण माला' का चौथा पुष्प है। जिसका उद्देश्य सरल और सुबोध भाषामें तत्त्व ज्ञानके साथ बालकोंका चरित्र निर्माण करना है। जिसके सुश्रृङ्खलित प्रकाशनमें चुरू (राजस्थान) के अनन्य साहित्य प्रेमी श्री हनूतमलजी सुरानाने अपने स्वर्गीय पिता श्री मन्नालालजीकी स्मृतिमें नैतिक सहयोगके साथ आर्थिक योग देकर अपनी सांस्कृतिक व साहित्य सुरुचिका परिचय दिया है, जो सबके लिए अनुकरणीय है। हम 'आदर्श साहित्य संघ' की ओरसे सादर आभार प्रकट करते हैं।

—प्रकाशन मन्त्री

विषयानुक्रम

शिक्षा-षण्णवतिः

गुरुप्रकरणम्

विष्वग् विपादपरिपूरितविस्टपेऽस्मि-
स्तस्यैव मौलिकमिहास्ति जनुर्जनस्य ।
यस्य क्रियारचितिराचरणं भवेयु-
रालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥१॥

आलम्बनं भवजले पततां जनानां,
स स्यात् समस्तभुवने तिलकायमानः ।
यस्य स्वयं विकृतयः प्रलयं प्रयाता,
यत्सूक्तयः प्रकृतपापविमुक्तये स्युः ॥२॥

गुरुप्रकरणम्

जिस मनुष्यके कार्य, मन्तव्य और आचरण संसार-सिन्धुके अथाह जलमें डूबते हुए मनुष्योंके उद्धारका कारण बनते हैं, उसी मनुष्यका जन्म इस अनन्त दुःखोंसे परिपूर्ण संसारमें मौलिक कहा जाता है ॥१॥

जो स्वयं विकारोंको नष्ट कर चुका हो, जिसके एक एक वचन पूर्वकृत पापोंसे मुक्ति दिलानेवाले हों, वही संसारका सर्वश्रेष्ठ मनुष्य, संसार समुद्रमें डूबते हुए मनुष्योंके उद्धारका कारण बन सकता है ॥२॥

नानाविवादविकले वसुधातलेऽस्मिन्,
प्रद्योतयेद् गुरुपद स किलोर्ध्वरेता ।
यो विश्रुतोऽविकलसच्चरिताश्रितात्मा,
य सस्तुत सकलवाङ्मय तत्त्वबोधात् ॥३॥

य सस्तुत सकलवाङ्मयतत्त्वबोधाद्,
विद्वद्वरैर्निखिलशास्त्रविवेचनार्हैं ।
किन्तु स्वजीवनगतिर्विकृता कुवृत्ता,
च्चेत्तादृशो गुरुरहो मुडित जनौघे ॥४॥

तत्त्वप्रचारणपटु कटुताविमुक्त,
मुक्त्येकबद्धहृदय हृदयार्जवाढ्यम् ।
ज्ञानाम्बुधि गुरुवर श्रुतभागधेया,
दन्य क इच्छति जन सहसा ग्रहीतुम् ॥५॥



जिसका चरित्र अखण्ड हो और जो वाङ्मयगत समस्त तत्त्व ज्ञानसे परिचित हो, वही ऊर्ध्वरेता—ब्रह्मचारी इस वाद विवादों में फँसेहुए पृथ्वीतल पर गुरुपदको अलङ्कृत कर सकता है ॥३॥

जिस गुरुके जीवनकी गति असदाचारके कारण विकारग्रस्त हो गई है, उसकी स्तुति चाहे फिर अशेष शास्त्रोंकी विवेचना करनेवाले प्रखर विद्वान समस्त साहित्यके तत्त्वों द्वारा भी क्यों न करते रहें, परन्तु वह ससारको तारनेवाला कभी नहीं हो सकता, अपितु डुबोनेवाला ही होता है ॥४॥

ऐसा गुरु, जो तत्त्वका प्रचार करनेमें निपुण, कटुतासे रहित, मुक्तिके लिए परम उत्सुक, हृदयसे सरल और ज्ञानका अगाध समुद्र हो, किसी भाग्यशालीके अतिरिक्त और किसको मिल सकता है ? ॥५॥

प्रत्यक्षपक्षपतितात् सुविवेकशून्या,
दन्य क इच्छति जन सहसा ग्रहीतुम्
मिथ्यादृश श्रमणधर्मविशेषवर्जं,
तद्वेषवृत्तिकमल गुरुमर्थबुद्ध्या ॥६॥

यस्येन्द्रियाणि वशगानि मनो न मूढ,
रात्रिंदिव प्रयतते स्वपरात्मसिद्ध्यै ।
कान्तस्य गौरवमहो विवरीतुमीश,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥७॥

मेधाविनाऽपि मनुजेन महामहिम्ना,
धर्तव्य एव किल सद्गुरुरुत्तमाङ्गे ।
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्या,
को वा भवान्तमयते गुरुमन्तरेण ॥८॥

श्रमण-धर्मसे रहित होकर केवल श्रमण वेषसे अपनी उदर-पूर्ति करनेवाले असत्यदर्शीको प्रत्यक्षत पक्षपाती तथा विवेकहीन व्यक्तिके अतिरिक्त और कौन गुरु बुद्धिसे स्वीकार कर सकता है ? ॥६॥

जिस प्रकार भुजाओं से तैरकर कोइ भी समुद्रका पार नहीं पा सकता, उसी प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत हो, मन मोह में न फँसा हो और जो रातदिन स्व-पर कल्याणके लिए सचेष्ट रहता हो, उसके गौरवका भी पार कोइ नहीं पा सकता ॥७॥

मनुष्य कितना ही बुद्धिमान तथा यशस्वी क्यों न हो, फिरभी उसे अपने सिरपर सद्गुरुका अनुशासन तो धारण करना ही चाहिए, क्यों कि जिस प्रकार नौकाके बिना केवल भुजाओं से कोई भी समुद्रका पार नहीं पासकता, उसी प्रकार गुरुके बिना भव-समुद्रका पार भी कोइ नहीं पासकता ॥८॥

ग्राह्यो यथाशु सुगुरुर्गरिमाण मास,
स्त्याज्यस्तथैव कुगुरुर्गुणताविहीन ।
को वा तरीतुमल्पमम्बुनिधिं भुजाभ्या,
लोष्टु श्रितोऽपि किमु कोऽपि कदापि तीर्ण ॥९॥

कश्चिद् विभात्ययमहो सुगुरो प्रभाव-
आराद्धमर्हति यत खलु पगुरद्रिम् ।
मूको मयाऽद्य समलोकि रुजार्त्तगात्र,
कर्तुं स्तव विगतशक्तिरपि प्रवृत्त ॥१०॥

कर्तुं स्तव विगतशक्तिरपि प्रवृत्त,
सर्वज्ञवर्णिततरस्य गुरोर्गरिम्ण ।
को विस्मयोऽत्र किमुना विकल यतेन,
पुत्र पितृप्रथितकर्मणि कर्मशील ॥११॥

गुरुतायुक्त सद्गुरु जितना ग्राह्य है, उतनाही गुरुताहीन कुगुरु त्याज्य है, क्योंकि भुजाओं से तथा पत्थरकी नौकासे क्या कभी कोई समुद्रको पार कर सकता है? समुद्र अच्छी नौकासे ही पार किया जासकता है, भुजाओं तथा पत्थरकी नौकासे नहीं, वैसे ही भवसमुद्र भी सद्गुरुके सहारेसे ही पार किया जा सकता है, अपने आप तथा कुगुरुके सहारेसे नहीं ॥९॥

सुगुरुका यह कोई अचिन्त्य ही प्रभाव होता है कि जिससे पगु भी पहाडकी चोटी पर चढ सकता है अर्थात् एक क्रियाहीन व्यक्ति क्रियाशील बनकर उन्नतिके शिखर चढ सकता है। मैंने यह भी देखा है कि एक रोगी तथा मूक व्यक्ति जो बोलना भी नहीं जानता, गुरुके प्रभावसे बोलनेमें प्रवृत्त हो जाता है ॥१०॥

गुरुके जिस माहात्म्यका वर्णन सर्वज्ञोंने किया है, उसी माहात्म्यको मैं एक असमर्थ व्यक्ति भी व्यक्त करने चला हूं। आपको इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि पिताने जो काम किया हो, उसी कार्यको करनेमें यदि कर्मठ पुत्र निरन्तर प्रयास करने लगे तो क्या यह कोई आश्चर्य है? ॥११॥

यावन्न लब्धशरण करुणार्णवस्य,
कर्णातिथे सुवचसो गुरुदेशितस्य ।
तावन्नरो विभवशाल्यपि नो विभाषी,
यत्कोकिल किल मधौ मधुर विरौति ॥१२॥

आकर्ण्य कर्ण-कुहरे सदृशीं गुरुक्ति,
लाभस्तु तत्र निजयोग्यतयैव लभ्य ।
आम्राङ्कुरान् कवलयन् कटुकौति काको,
यत्कोकिल किल मधौ मधुर विरौति ॥१३॥

जबतक मनुष्य गुरुके द्वारा उपदिष्ट कानमें पडनेवाले करुणा-गर्भित वचनो की शरण नहीं लेता, तबतक वैभवशाली होनेपर भी शोभित नहीं होता। दृष्टान्तके लिए कोयलको ही लीजिये, वह स्वत मधुरभाषिणी होती हुई भी चैत्रमासमें जितनी मधुर बोल सकती है, उतनी अन्य महीनो मे नहीं ॥१२॥

गुरुका उपदेश सबके लिए समान होता है, फिरभी श्रोतृगण अपनी अपनी योग्यताके अनुसार ही लाभ उठा सकते हैं। जैसे —चैत्रमें आमरी मञ्जरियोंका समानतया उपभोग करने पर भी काक तो कटु ही बोलता रहता है और कोयल अधिक मधुर बोलने लगती है ॥१३॥

धर्म-प्रकरणम्

येषां प्रिया सहचरी सुतरामहिंसा,
सत्यं वचः सुहृदचौर्य्यमतोऽनुचारी ।
दासी सदैव दमिता यमिता च तेषां,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ॥१४॥

सद्देग्धि कोऽत्र ननु संयमसाधनेन,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।
धूमध्वजेन वनदाहविवर्धितेन,
किं दह्यते न पतितोऽत्र पलालपूलः ॥१५॥

धर्म-प्रकरण

अहिंसा जिनकी सहचरी है, सत्य जिनका मित्र है, अचौर्य्य जिनका अनुगामी है और दमिता (इन्द्रिय दमन परक्ता) तथा यमिता (विरक्तता या नियमानुवर्तिता) जिनकी दासियां हैं, उन महर्षियोंके पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं ॥१४॥

संयमकी साधनासे प्राणियोंके पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं, इसमें कौन सन्देह कर सकता है, क्योंकि वनको जला देने वाली अग्निमें घासके एक पूलेका जलना क्या कभी सन्देहास्पद होता है ? ॥१५॥

द्यूतादिदुर्व्यसनत पतितोऽपि पाप्मा,
प्रोद्दीप्तिभाग् भवति सयमसश्रयेण ।
स्वातौ सुशुक्तिवदने गगनाच्च्युतोऽपि,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दु ॥१६॥

शश्वज्जडोऽपि जडजोऽपि सदाश्रयेण,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दु ।
मिथ्यात्विनोऽप्यसुमतस्तपसाश्रितस्य,
धर्मित्वमस्तु विषये विरुणद्धि कोऽत्र ॥१७॥

गर्वारुणोऽस्यरुण । किं त्वमितीवकुर्या,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ।
किन्तु प्रपृच्छ कुमुदास्तव गौरवाभा,
सर्वत्र तुल्यमहिमा स तु धर्म एक ॥१८॥

द्यूत आदि दुर्व्यसनोंमें पड़कर जो पापात्मा पतित हो जाता है, वह सयमका आश्रय लेकर पुन उत्थानोन्मुख हो सकता है। जैसे—आकाशसे च्युत होकर भी पानीकी बूद स्वाति नक्षत्रमे सीपके मुहमें जाकर मोतीका रूप धारण कर लेती है ॥१६॥

जड़ मेघसे उत्पन्न होनेवाली पानीकी एक नगण्य बूद सीपका शुभ आश्रय लेकर मोतीका स्वरूप धारण कर लेती है उसी प्रकार यदि एक मिथ्यात्वी प्राणी तपस्याके आश्रयसे धर्मका आंशिक आराधक बन जाता है तो इस विषयमे किसका विरोध हो सकता है ? ॥१७॥

सूर्य ! 'मैं सरोवरस्थ कमलोंको विकस्वर करता हू' यही सोचकर क्या तू इतना गर्वित हो रहा है ? यदि सचमुच इस मिथ्याभिमानका तू शिकार हुआ है तो पहले उन कुमुदोंसे पूछ, जो तेरे आगमन मात्रसे मुरझा जाते हैं, तेरे गौरवका खोखला पन वे ही बतायेंगे। सभवत तब तू यह भी जान सकेगा कि सर्वत्र एक समान गौरव प्राप्त करनेका अधिकारी तू नहीं किन्तु एक मात्र धर्म ही है, क्योंकि वह एकका पोषक और एकका शोषक न होकर सबका ही पोषक होता है ॥१८॥

धर्मप्रभावमनुतिष्ठति सम्यगेषा,
विश्वस्थितिस्तदनुगाविह पुष्पदन्तौ ।
तेजस्तत प्रसरति प्रतिसद्म तस्मात्,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥१९॥

चेतोहरे प्रवहणे त्वयि सत्पताके,
नियमिकादिनिचितेऽपि भवाम्बुराशौ ।
जीवा म् ज्जन्ति जिनधर्म ! यत क्मिेतद्,
नात्यद्भुत भुवनभूषण ! भूतनाथ ! ॥२०॥

क्रूरा कलङ्कितकलाश्च यदूर्ध्वहस्ता,
यस्मिन् युगे प्रतिगृह मनिता श्रिताश्च ।
तूर्णी स्थित किमपि धर्म ! महास्त्वमित्य,
नात्यद्भुत भुवनभूषण ! भूतनाथ ! ॥२१॥

यह पृथ्वी धर्मके प्रभावसे ही टिकी हुई है, यह सूर्य और चन्द्रमा भी धर्मके प्रभाव-क्षेत्रसे बाहर नही जासके हैं अपितु उसके अनुचर ही हैं, यह प्रकाश (ज्ञानका) भी प्रत्येक घरमें उसीसे फैल रहा है और सरोवरोंमें (हृदयरूप सरोवरोंमे) ये कमल (सद्भावनारूप कमल) भी उसी धर्मके प्रभावसे विकस्वर हो रहे हैं ॥ १९ ॥

ससारके भूषण ! प्राणियोंके रक्षक ! हे जिनधर्म ! (अनेकान्त-रूप) पताकासे सुशोभित और (धर्मगुरुरूप) निर्यामक—खेवटसे चालित तेरे जैसे सुन्दर जलयानके होते हुए भी कुछ पापी जीव भवसमुद्रमें डूबही जाते हैं, तो क्या यह अत्यन्त आश्चर्यकी बात नहीं होगी ? ॥ २० ॥

जिस युगमे क्रूर-कर्मा, परिग्रहीन और ऊँचे हाथ उठा उठाकर हल्ला मचानेवाले मनुष्योंका घर-घर आदर होता हो, ऐसे युगमे हे ससारके भूषण ! प्राणियोंके रक्षक धर्म ! तुम यदि मौन हो जाओतो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि तुम महान् हो। जो महान् होते हैं, वे बिना अवसर नहीं बोलते, वे अवसरकी प्रतीक्षा करते हैं। ॥ २१ ॥

वृष्टं जिनेन्द्रवदनाम्बुमुचं सुधाम्
सृष्टं प्रकृष्टपटुभिगणभृत्सरोभिः ।
तम्मिष्टमिष्टमपि धर्मपयो विहाय,
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत ॥२२॥

यस्मिन् विभाति विशदा खलु विश्वमैत्री,
यद्भिित्तिरीप्सितफला विमलेत्यहिंसा ।
तं जैनधर्ममपहाय विधर्मरूपं,
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥२३॥

क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छे,
द्धित्वामृतं मुहुरितीत्यमहो ब्रुवाणा ।
वेगादधर्मनिरता विषयपिणो वा,
किं कुर्वते समुचितं सुविचार्यमेतं ॥ २४ ॥

जिनेन्द्रदेवके मुखरूप मेघसे बरसे हुए और अत्यन्त चतुर गणधररूप सरोवरोंके द्वारा संचित किये हुए धर्मरूप मीठे पानीको छोड़कर समुद्रके खारे पानीकी (कुदेवनिर्दिष्ट अधर्मका ग्रहण करनेकी) कौन इच्छा कर सकता है? ॥ २८ ॥

विशुद्ध विश्रान्ति जिसका साध्य है और इच्छित फल देनेवाली अहिंसा जिसकी मूलभित्ति—नींव है, ऐसे जैनधर्मको छोड़ कर विधर्मरूप समुद्रीय खारे जलको पानेकी कौन इच्छा करे? ॥२३॥

'अमृतको छोड़कर समुद्रके खारे पानीको कौन पीना चाहे'? ऐसा कहनेवाले अधमाधम और विषय-लोलुप मनुष्य स्वयं क्या कर रहे हैं, इस बातपर समुचित विचार करें। ॥ २४ ॥

अध्यात्मवादविदुषा हृदय सुपुसा,
माधारभूमिरपवर्गपदस्य पन्था ।
केनाऽत्र धर्म इति सारतर पदार्थो,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ॥२५॥

नान्य प्रशस्ततरमार्गमवेक्षमाण,
पुन्य शुभ यमधिकृत्य सदोदपादि ।
यस्मात्सुखानि सुलभानि सता स केन,
निर्मापितस्त्रिभुवनकललामभूत ॥२६॥

भेदद्वयी भवति सम्वरनिर्जराख्या,
यस्यापुनर्भवविभूतिभृतोऽमलस्य ।
सर्वेषु जन्तुषु समोधिकृत स केन,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ॥२७॥

जो अध्यात्मवादियोंका हृदय, सत्पुरुषोंका आधार और मोक्ष का मार्ग है, उस त्रिलोकीमें एकमात्र सुन्दर तथा सारभूत 'धर्म' नामक पदार्थकी रचना किसनेकी है ? ॥ २५

अपने उत्पन्न होनेका और कोई प्रशस्त मार्ग नहीं पाकर पुण्य सदा जिसके आश्रयसे ही पैदा होता है और सारे सुख भी (भौतिक या आत्मिक) जिससे सुलभ होते हैं, उस तीन लोकमें एकमात्र सुन्दर 'धर्म' का निर्माण किसने किया है ? ॥२६॥

जिस मुक्तिदाता निर्मल धर्मके सम्वर और निर्जरा ये दो भेद होते हैं और जो सब प्राणियोंको समान अधिकार देता है, उस तीन लोकमें एकमात्र सुन्दर धर्म' का निर्माण किसने किया है ? ॥२७॥

येनाञ्चित परिचितो विदित सुधर्म,
सशीलित प्रतिपल हृदि धारितश्च ।
तेन प्रबुद्धमनसा सहसा निजात्मा,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ॥२८॥

क्वासावनादिनिधनोऽविकलो ज्वलाभ,
सर्वत्रशान्तिवरदो जिनराजधर्म ।
बिम्ब कलङ्कमलिन क्व निशाकरस्य,
यच्छोपयेद् विरहिमानसवृत्तिमाशु ॥२९॥

क्रूरत्वकरकलित स्खलित खराशो
बिम्ब कलङ्कमलिन क्व निशाकरस्य ।
नैर्मल्यमासमधुनापि जनोपकाराद्,
धर्माद् ऋते नहि विशुद्धिपद विभाति ॥३०॥

जिसने धर्मको स्वीकार किया है, जिसने इससे परिचय किया है, जिसने इसका ज्ञान किया है, जिसने इसे आचरणमें उतारा है और जिसने इसको प्रतिक्षण हृदयमें स्थान दिया है, बस ज्ञानी मनुष्यने अपनी आत्माको तीन लोकमें एकमात्र सुन्दर बना लिया है। ॥२८॥

कहाँ तो यह अनादि निधन शाश्वत, अखण्डरूपसे प्रकाश फैलानेवाला और सबको शान्तिका वरदान देनेवाला जिनधर्म और कहाँ यह कलङ्कित तथा विरही मनुष्योंकी चित्तवृत्तिको ठेस पहुँचानेवाला चन्द्रबिम्ब? (इन दोनोंकी तुलना नहीं की जा सकती।) ॥ २९ ॥

भूखाके पापको वहन करनेकी स्खलना करनेवाला सूर्यका बिम्ब और कलङ्क द्वारा मलिन होनेवाला चन्द्रमाका बिम्ब, दोनों ही जनताका उपकार करते हैं किन्तु केवल जनोपकारसे आजतक भी अपने दोषोंको धोकर निर्मलता कहाँ पा सके हैं, क्योंकि आत्मशुद्धि धर्मके विना और किसी प्रकारसे नहीं हो सकती ॥३०॥

धार्मिक-प्रकरणम्

पार्थिक्यमेति जगतीव्यवहारतोय,
नैक्य कथञ्चिदनयोर्वरता विमर्ति ।
इत्थ विमृष्य शिववर्त्मनि सस्थिता ये,
कस्तान्निवारयति सचरतो यथेष्टम् ॥३१॥

उत्सृज्य धर्मसरणीं धरणीं श्रिता ये,
नास्त्यात्मतत्त्वमिति नास्तिकता गता ये ।
निस्सीमभीमभववारिनिधावदभ्र ,
कस्तान्निवारयति सचरतो यथेष्टम् ॥३२॥

धार्मिक-प्रकरणम्

'जगत्‌का व्यवहार और धर्म पृथक् पृथक् हैं। इन दोनोंको एक समझ लेना कल्याणकारी नहीं होता।' इस तत्त्वको हृदयङ्गम करके जो मनुष्य मुक्तिमार्ग पर प्रस्थान करते हैं, उनको यथेष्ट गमन करनेसे कौन रोक सकता है ? ॥३१॥

धर्मके मार्गको छोड़कर जो धरती पर बैठ गये हैं—निरुत्साह हो गये हैं तथा 'आत्मा नामक' कोई तत्त्व नहीं है, यों समझकर जो नास्तिक हो गये हैं, उनको इस अपार भयंकर भव सागरमें डूबनेसे कौन रोक सकता है ? ॥३२॥

नानामनोज्ञरसमभूतभोजनेन,
कान्तासुकोमलकटाक्षविलोकनेन ।
धर्मैकनिष्ठहृदयान प्रविहाय केषा
नीत मनागपि मनो न विकारमार्गम ॥३३॥

येषा स्वभावरमणप्रकृताशयाना
पञ्चेन्द्रियप्रबलभोगपरम्पराभि ।
नीत मनागपि मनो न विकारमार्गं,
ते धार्मिका ध्वनिधुरीणपद लभन्ते ॥३४॥

रे जनधर्म ! भुवनेश । निजप्रकाशं
कृत्स्न जगत्त्रयमिद प्रकटीकरोषि ।
तत्किं ममात्ममयमन्दिरमाश्रितोऽपि,
नाद्यावधि प्रकुरुषेऽमितसन्निधानम् ॥३५॥

नाना प्रकारके मनोज्ञ रसयुक्त भोजनसे और स्त्रियोंके कोमल कटाक्षों को देखनेसे धर्मनिष्ठ व्यक्तियों के अतिरिक्त और कौन ऐसा है, जिसका मन किञ्चित् भी विकारग्रस्त न होता हो ? ॥३३॥

स्वभावतः सुन्दर और सरल आशयवाले जिन मनुष्यों का मन पांचों इन्द्रियोंको प्रबल भोग सामग्रियोंसे किञ्चित् भी विकार ग्रस्त नहीं होता, वे ही धर्मके मार्गमें अग्रसरता पा सकते हैं । ॥३४॥

हे विश्ववन्द्य जैनधर्म ! तुम अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण तीनलोक को प्रकाशित करते हो, तो फिर मेरे इस आत्म मन्दिरको— जिसमें तुम निरन्तर बसा करते हो, क्यों नहीं अनन्त ज्ञानसे द्योतित कर देते ? ॥३५॥

मिथ्यात्वमन्युमदमोहममत्वमार—
मन्दत्वमानधुनपानतमोमृषादीन् ।
धर्मान्तृणोपि यदि तर्हि कथ कथय,
कृत्स्न जगन्त्रयमिद प्रकटीकरोपि ॥३६॥

हे धर्म। जबकि तुम मिथ्यात्व, क्रोध, मद, मोह, ममता, काम, अज्ञता, अभिमान, मद्यपान, पाप और असत्य आदि दुर्गुणोंको आवृत करते हो तो यह कैसे कहा जा सकता है कि तुम सम्पूर्ण तीनलोकको प्रकाशित करते हो ? ॥३६॥

अहिंसा-प्रकरणम्

विद्धं परेणपरिमोऽपि भयं प्रयाति,
त्वत्तो विकासमयते जगदन्तरात्मा ।
हे प्राणिमात्रहितकारिणि देव्यहिंसे ।
सर्वातिशायिमहिमासि मुनीन्द्रलोके ॥३७॥

ज्योत्स्ना प्रसारयति शान्तरसं शशाङ्क
प्रोल्लासितास्त्वदुदयेऽपि नृनेत्रतारा ।
सन्तापहारिणि विदारिणि पापपङ्कं,
सर्वातिशायिमहिमासि मुनीन्द्रलोके ॥३८॥

अहिंसा-प्रकरणम्

हे अहिंसादेवि! तू विद्वेषका नाश करनेवाली है, भय तेरेसे दूर रहता है, जगत्की अन्तरात्मा तेरेसे विकास पाती है, प्राणीमात्रका तू हित करनेवाली है और मुनिवरो के लिए तो तू सूर्यसे भी बढकर प्रकाश देनेवाली है। ॥३७॥

हे अहिंसादेवि! तू मुनिवरो के लिए सूर्यसे भी बढकर प्रकाश देनेवाली है, तुम्हारे उदयकालमें भी शान्त रस रूपी चन्द्रमा अपनी कौमुदी फैला रहा है, मनुष्यो की नेत्ररूपी तारागण विकसित हो रहे है। सन्ताप हरण करनेवाली और पाप पुञ्जका विनाश करनेवाली देवि! क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं?

सत्य शिवङ्करमहिंसपरं सुगम्य,
नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारम् ।
आदत्स्व भो ननु नचेति विहाय शीघ्रं,
कर्तुं समुन्नतिमथोत्सुकता बिभर्षि ॥३९॥

विभ्राजति त्वयि दयामय धर्म ! विश्वे
हिंसास्थितिर्यदपि पापिनि नेति चित्रम् ।
त पश्यामि पार्वतगुहासु निशालयेऽपि,
नित्योदय दलितमोहमहान्धकारम् ॥४०॥

हे मनुष्य ! यदि तू उन्नति चाहता है तो शीघ्रातिशीघ्र 'ननु, नच' छोड़कर मोहरूप अंधकारसे रहित, शाश्वत, सत्य, कल्याणकारी और सुगम अहिंसा-मार्गको स्वीकार कर ॥३९॥

हे दयामय धर्म ! (अहिंसाधर्म) संसारमें तेरे होते हुए भी हिंसाने पापियों के हृदयमें निवासस्थान पा लिया है तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्यों कि हम देखते हैं, दिन उग आने पर भी अन्धकार सावधान होकर पर्वतों की गुफाओंमें सदा विद्यमान रहता है। ॥४०॥

सत्य-प्रकरणम्

जागर्ति जीवति च सत्यमयः प्रकाशः,
विश्वाङ्गणे तिमिरशैलपवि प्रभावी ।
किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
विश्रान्तिमिच्छुरिव योऽस्तमवैति शश्वत् ॥८१॥

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
नोद्भास्यते जगदिदं धृतिमन्तरेण ।
वर्षन्ति प्रावृषि न किं नियता पयोदाः,
सत्यप्रतापपरिजृम्भितमेव सर्वम् ॥८२॥

सत्य-प्रकरणम

अज्ञानरूप अन्धकारके पटलोंको विनष्ट करनेके लिये एकमात्र सत्यका प्रकाश ही यशसा प्रभावशाली इस संसारमें जागृत और जीवित रहता है। रात्रिमें चन्द्र और दिनमें सूर्य क्या प्रकाश दे सकते हैं जबकि बार बार अस्त होते हैं, मानो कि विश्राम करना चाहते हैं। ॥४१॥

रात्रिमें चन्द्रमा और दिनमें सूर्य, क्या बिना वेतन ही इस जगत्को प्रकाशित नहीं करते हैं? वर्षाकालमें मेघ भी क्या बिना वेतन ही नियतरूपसे नहीं बरसते हैं? यदि 'हां' तो समझना चाहिए कि यह सारा सत्यका प्रभाव ही है, अर्थात् चन्द्र, सूर्य और मेघ अपने सत्य स्वभावसे ही अपना अपना कार्य करते हैं, उन्हें वेतन नहीं चाहिए। मनुष्यको भी सत्यमें ऐसा ही अडिग होना चाहिए। ॥४२॥

ख्याति गतेषु वितथोक्तिविशारदेषु,
चित्ते स्वभावमहता न मृषा रुचि स्यात्।
ग्राह्या मतिर्भवति रत्नपरीक्षकाणा,
नैव तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥४३॥

यद्यात्मदर्शनमल कुरुते सुमत्ये,
सत्यव्रताहितमतिर्मतिमान् मनुष्य ।
तल्लेशमात्रमपि चेत्स्फटिकेन लभ्य,
नव तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥४४॥

झूठ बोलनेवाले मनुष्यों की प्रख्याति होते देखकर भी जो स्वभावतः महान् होते हैं, उनके चित्तमें झूठके प्रति कभी रुचि नहीं हो सकती, क्योंकि काँचका टुकड़ा सूर्यकी किरणों से चमकता भी हो तो भी रत्नपरीक्षकों की बुद्धि उसे ग्रहण करनेकी ओर नहीं झुकती। ॥४३॥

सत्यव्रतमें निष्ठा रखता हुआ मनुष्य सत्यमें जो आत्म दर्शन कर पाता है, उसका दृश्य भी न तो स्फटिकमें और न चाकचिक्ययुक्त किसी दर्पणमें ही कर सकता है, क्योंकि ये सब तो शरीर दर्शनके ही साधन हैं। ॥४४॥

अचौर्य्य-प्रकरणम्

सतोपपोपितमतिव्र तिपादसेवी,
शश्वत परस्वहरणे तनुते न नेति ।
एका विहाय शिवसङ्गरमा तु तस्य,
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥४५॥

आस्वादित सकृदचौर्य्यमहाव्रतस्य,
ये स्वादुसारदरस स्ववशे सुपुप्य ।
तेषा विशिष्टतमविक्रमशालि चौर्य्ये,
कश्चिन्मना हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥४६॥

अचौर्य्य-प्रकरणम्

जिसकी बुद्धि सन्तोषसे पुष्ट हुई है और जो साधुजनोंकी सगतिमें रहता है, उसकी आत्मामें पर धन हरण करनेके विषयम यही अन्तर्ध्वनि निकलेगी—'नही, नहीं ऐसा नहीं करना चाहिए।' एसे मनुष्यके मनको एक मुक्ति लक्ष्मीको छोड़कर और कोई वस्तु जन्मान्तरमे भी नहीं लुभा सकती। ॥४५॥

जिन स्वतन्त्र और सुपुण्य व्यक्तियोंने एकबार भी अचौर्य्य-महाव्रतका स्वादिष्ट और सारयुक्त रस चखलिया है, उनके इस महान बलशाली मनको जन्मान्तरमें भी कोई चोरीकी ओर नहीं झुका सकता। ॥४६॥

ब्रह्मचर्य-प्रकरणम्

यो ब्रह्मचर्यनिरतो विरतान्तरात्मा,
यस्य स्वमुष्टिमधितिष्ठति चित्तवृत्ति ।
तादृड् नरो विरल एव विलोक्यतेऽन्यान्,
स्त्रीणा शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान् ॥४७॥

येपामभोगचरितेन शितेन सम्यग्
ऊर्ध्वं गतो जगति जैनलसल्ललाट ।
ते नेमिराट्प्रभृतयो भुवि भूतयोऽन्यान्,
स्त्रीणा शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान् ॥४८॥

ब्रह्मचर्य-प्रकरणम्

सैकड़ों स्त्रियां अन्य सैकड़ों ही पुत्र पैदा करती हैं किन्तु ऐसा तो कोई विरलाही मनुष्य पैदा होता देखा जाता है, जो ब्रह्मचर्य में रत हो, अन्तरात्मासे विरक्त हो और अपनी चित्तवृत्तियो को मुट्ठीमें रखनेवाला हो। ॥४७॥

जिन्होंने अपने विशुद्ध ब्रह्मचर्यके तेजसे जैनका मस्तक ससार के सन्मुख ऊंचा उठाया है, व नेमिनाथ आदि महापुरुष ससार की विभूतियां हैं, अन्य तो चरित्रहीन सैकड़ों ही पुत्र माताएं जनती हैं। ॥४८॥

ध्यायामि नौमि वितनोमि वृणोमि यत्,
तद् ब्रह्मचर्यमभितो गुणगौरवार्च्यम ।
यद् योगिनो विगणयन्ति विचित्ररूपं
आदित्यवर्णममल तमस पुरस्तात ॥४९॥

शील सलीलमखिल परिशीलितं यैं
किं वर्णयाम्यनुपमेय तदात्मवर्णम ।
बाह्य शरीरमपि तत् स्फटिकोज्ज्वलं चे,
दादित्यवर्णममल तमस पुरस्तात् ॥५०॥

यच्चेतसा जगति चित्तवतामचिन्त्य,
संवेदनेन विमलेन भवेद्वेद्यम् ।
यत्सर्वशक्त्यनुगत सुरतप्रतीप,
ज्ञानस्वरूपममल प्रवदन्ति सन्त ॥५१॥

सत्पुरुषोंका कथन है—वस्तुका स्वरूप जैसा हो, वैसा ही जानना ज्ञानका शुद्धस्वरूप है। अतः ब्रह्मचर्यके विषयमें विवेचनपूर्वक विशिष्ट योगियोंको प्रकाश डालना चाहिए। मैं वैसे अब भी स्वयं ब्रह्मचारी होते हुए भी, जाननेको उत्सुक हूँ, क्योंकि अनन्त ब्रह्मचर्य-समुद्रके मथनसे कोई न कोई नवीन विचार रत्न अनायास मिल ही जाता है। ॥५२॥

हे ब्रह्मचर्य! तू अनन्त शक्तिका भण्डार है अतः क्या तू ब्रह्मा है? तू ध्रुव—स्थिर है, अतः सचमुच ही भान होता है कि तू मेरु है। तू कोमल है, तो क्या कुसुमसे भी अधिक? तू कठोर है तो क्या वज्रसे भी अधिक? तू तीनों लोकोंको सुखदेनेवाला (शं+कर=सुख करनेवाला) है, अतः क्या तू शंकर है? ॥५३॥

हे तारक ब्रह्मचर्य! तू भवकी व्यथासे व्यथित मानवोंका तारक है। संसार प्रसिद्ध सुखास्पद—मोक्षको देनेवाला है। सत्पुरुषोंका बन्धु है और हे धीर! कल्याणमार्गकी विधिका करनेवाला है। अतः तू धाता—सबको धारण करनेवाला

यद् यादृश भवति तच्च तथेतिवेद्य,
ज्ञानस्वरूपममल प्रवदन्ति सन्त ।
शीलस्वरूपमधुनापि विवेच्यवाच्य,
योगीश्वरैरभिलषामि मुदाऽवगन्तुम् ॥५२॥

ब्रह्मासि किं निखिलसत्यसमन्वितस्त्व,
ध्रौव्येण मेरुरिति सकलयामि सत्यम् ।
किं कोमलोऽसि कुसुमात् कठिनोऽसि वज्रात
त्व शकरोऽसि भुवनत्रयशकरत्वात ॥५३॥

त्रातासि तारक ! भवाधिविबाधिताना,
दाताऽसि विश्वविदितस्य सुखास्पदस्य ।
भ्रातासि शील ! किल शश्वदबान्धवाना,
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात् ॥५४॥

सत्पुरुषोंका कथन है—वस्तुका स्वरूप जैसा हो, वैसा ही जानना ज्ञानका शुद्धस्वरूप है। अत ब्रह्मचर्यके विषयमें विवेचनपूर्वक विशिष्ट योगियोंको प्रकाश डालना चाहिए। मैं उसे अब भी स्वयं ब्रह्मचारी होते हुए भी, जाननेको उत्सुक हूँ, क्यों कि अनन्त ब्रह्मचर्य-समुद्रमें मथनसे कोई न कोई नवीन विचार रत्न अनायास मिल ही जाता है। ॥५ ॥

हे ब्रह्मचर्य! तू अनन्त शक्तिका भण्डार है अत क्या तू ब्रह्मा है? तू ध्रुव—स्थिर है, अत सचमुच ही भान होता है कि तू मेरु है। तू कोमल है, तो क्या कुसुमसे भी अधिक? तू कठोर है तो क्या वज्रसे भी अधिक? तू तीनों लोकोंको सुखदेनेवाला (शम्कर=सुख करनेवाला) है, अत क्या तू शंकर है? ॥५३॥

हे तारक ब्रह्मचर्य? तू भवकी व्यथासे व्यथित मानवोंका रक्षक है। संसार-प्रसिद्ध सुखास्पद—मोक्षका देनेवाला है। बन्धुहीन मनुष्योंका बंधु है और हे धीर। कल्याणमार्गकी विधिका विधान करनेवाला है। अत तू धाता—मनको धारण करनेवाला है। ॥५४॥

सरक्षितोऽसि नवभिर्वृतिभिर्वराभि-
र्विश्वेश्वरैर्विरचिताभिरलौकिकीभि ।
सशीलितोऽस्यनुपमात्मबलावलीढै
र्वीक्ष्यमानसमुसयमशालिसद्भि ॥५५॥
सकीर्तित परमकारुणिकैर्जिनेशै,
सप्राप्तकेवल्युगर्युगवर्तकैस्त्वम् ।
रे ब्रह्मचर्य ! सुभगाय शिवाय मे स्या-
स्तुभ्य नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ ॥५६॥

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै,
श्रीब्रह्मचार्यतितमा समलकृत स्यात ।
गुर्विङ्गितज्ञमपहाय विनीतशिष्य,
स्थैर्यं क वेत्ति सकलाभिरलकलाभि ॥५७॥

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै,
रुत्सृष्टमाश्रितमतीव गुणैर्विलोके ।
अब्रह्मचारिणमहो मनुज क नून,
पापास्पद भवति पापिजनान् विहाय ॥५८॥

आत्मवली साधुजन मन, वचन और कायाको वशमें करके तेरा अनुशीलन करते हैं और तीर्थंकर रचित अलौकिक श्रेष्ठ नव वाड़ो से तेरा सरक्षण करते हैं। इसी तरह युग प्रवर्तक केवल ज्ञान और केवल दर्शनके धारक परम करुणामय तीर्थङ्कर तेरा यशोगान करते हैं, अत हे ब्रह्मचर्य! सुभग! कल्याणमय! और तीनो लोको के दु खनाशक! तुझे मेरा नमस्कार है। ॥५६॥

यदि ब्रह्मचर्यके पास सारे गुण आते हैं तो इसमें आश्चर्य क्या है? क्यो कि गुरुके इशारेको समझनेवाले विनीत शिष्यको छोड़कर सब कलाओ सहित स्थैर्य और कहां मिल सकता है? अर्थात जैसे विनीत शिष्यके पास कला और स्थैर्य आता है, वैसे ही ब्रह्मचारीके पास सारे गुण आते हैं। ॥५७॥

मैं देखता हूं कि अब्रह्मचारी मनुष्यको गुण तो छोड़ देते है और अवगुण उसे अपना आश्रय बनाते हैं, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्यो कि पाप पापियो का छोड़कर और कहां जाकर आश्रय ले। ॥५८॥

अपरिग्रह-प्रकरणम्

स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितान,
द्रव्य हिरण्यमणिमौक्तिकहीरकाद्यम् ।
दृष्ट्वैव दवतमनोऽपि धुनोति धैर्यं,
का तत्र कातरनृणा कथयामि वार्ताम् ॥५९॥

वेद्मीत्यवन्ध्यमपरिग्रहवत्तया स्या,
दात्मोन्नतिर्भवविरक्तिभृता सुपुसाम् ।
भालस्थल भवति भानुविऽम्बि तेषा,
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानम् ॥६०॥

अपरिग्रह-प्रकरणम्

अपनी प्रस्फुटित होती हुई किरणों द्वारा अंधकारको मिटाने वाले सुवर्ण, मणि, मोती और हीरों को देखकर देवताओं के मनका धैर्य भी डोल उठता है तो तुच्छ मनुष्योंकी तो बात ही क्या कहूँ ? ॥५९॥

मैं यह अच्छी तरहसे जानता हूं कि अपरिग्रहवत्तासे — परिग्रह को छोड देनेसे भवविरक्त प्राणियों की ही आत्मोन्नति होती है। प्रकाशकी किरणें फैलानेवाला और अंधकारका नाश करनेवाला उनका भव्य ललाट सूर्यको भी चुनौती देनेवाला हो उठता है। ॥६०॥

निःस्वो निरन्तरतया धरणीतलासी,
यादृक् सुखान्यनुभवेद् हृदि तुष्टिमाप्त ।
तृष्णा प्रपीडिततनु र्न तथास्थितोऽपि,
सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे ॥६१॥

केचित्तु धर्मकरणे ऽप्यनिवार्यमूचु,
र्धर्मं विना तदिह धर्ममशक्यमाहु ।
तेषां मते शिवसुखाधिकृता स्थिता ये,
सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे ॥६२॥

कुन्दावदातचलच्चामरचारुशोभं,
दिव्याम्बरावृतमलङ्कृतिभूषितं च ।
गात्रं न चात्र यदि किञ्चिदलोभवृत्ति,
र्व्यर्थं समस्तमपि शान्तिमृते विभाव्यम् ६३

हृदयमें सन्तोष रखनेवाला अतएव निरन्तर तपस्वी एक निष्परिग्रही व्यक्ति भूमिपर बैठकर जैसा आनन्द प्राप्त करता है वैसा आनन्द तृष्णासे पीडित धनिक व्यक्ति मणि-मण्डित सिंहासन पर बैठकर भी नहीं पा सकता। ॥६१॥

कुछ मनुष्य धर्म करनेके लिये धनकी अनिवार्य आवश्यकता बतलाते हैं और कहते हैं कि धनके बिना धर्म अशक्य है। उनके मतसे तो जो मणि मण्डित सिंहासनों पर बैठनेवाले धन कुबेर हैं, वे ही मोक्षके अधिकारी ठहरते हैं किन्तु यह असत्य है। ॥६२॥

जिसका शरीर उभय पक्षमें बीजे जानेवाले कुन्दके समान धवल चामरों से सुशोभित हो, बहुमूल्य वस्त्रों से आवृत हो और आभरणोंसे आभूषित हो, फिर भी यदि उसकी वृत्ति कुछ भी अपरिग्रहकी ओर नहीं झुकती तो उसे कभी भी शान्ति नहीं मिल सकती और शान्तिके बिना जो कुछ उसके पास है, वह सब व्यर्थ ही समझना चाहिए। ॥६३॥

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,
तीर्थाधिनाथमभिसेव्यमहत्त्वमाप्त ।
उन्नम्य शिक्षयसि शाश्वतमूकवाण्या,
सेव्य सदैव मनुजैरपरिग्रहीश ॥६४॥

किं नेक्षसेऽम्बरविहारणमम्बुवाह,
मुच्चै स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
यावज्जहाति न जलं ममताभ्युपेत,
तावद् बिभर्ति कलितं किल कालिमानम् ॥६५॥

उत्कन्धरास्त्वरितमीक्षितुमेवराहु,
मुच्चै स्थित स्थगितभानुकरप्रतापम
नात्मरररूपपरिगंधकमात्मनिष्ठ,
लोकोऽ न पश्यति निजाङ्घ्रितल ज्वलन्तम् ।६६।

हे अपरिग्रह! तू अपनी शाश्वत मूक भाषा द्वारा बड़े जोरों से यह शिक्षा देता है कि कुन्द धवल चामरोंसे वीज्यमान भगवान्‌की सेवासे महत्त्व पानेवाले परिग्रहत्यागी साधुओं तथा धर्माचार्योंकी मनुष्यको सदाही सेवा करनी चाहिए। ॥६४॥

क्या तुम आकाशमें विहार करनेवाले और सूर्यकी किरणो को आच्छादित कर देनेवाले ऊंचे मेघको नहीं देखते? यह भी जबतक अपने पानीका ममत्व नहीं छोड़ देता—बरस नहीं जाता, तबतक कालिमा ही धारण किये रहता है किन्तु उससे मुक्त नहीं हो सकता। ॥६५॥

सूर्यके प्रभावको आच्छादित करनेवाले आकाश स्थित राहु को देखनेके लिए तो लोग यह उत्सुक होते हैं किन्तु अपनी आत्माके स्वरूपको आच्छन्न करनेवाले आत्मामें ही ठहरे हुए कर्म-राहुको देखनेके लिए नहीं। वे इस कहावतको चरितार्थ कर देते हैं—'डूगर बलती देखिये, पग बलती न देखत'। ॥६६॥

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति,
शान्ति विलोक्य वदनस्य सुतोषभाज ।
क्लान्ति कलङ्कितकला विकला च गृध्नो ,
प्राणिस्तवात्र किमुपास्यमपास्यमस्ति ॥६७॥

सन्तोषी मनुष्यके मुंहपर खिले हुए स्वर्ण कमलकी आभावाली शान्ति छाई रहती है और लोभी मनुष्यके मुंहपर कलाहीन अशांति शान्ति और अशान्ति इन दोनो को देखकर अब तुझे स्वय चुनना है कि सन्तोष और लोभमेंसे तेरे लिए क्या हेय है और क्या उपादेय ? ॥६७॥

देव-प्रकरणम्

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति,
मादर्शय क्षणमथात्र तथा स्थिता ते ।
येनाऽत्र भारतभुवीश्वररूपशम्भो
स्याद्दर्शन जिनवरस्य विशालमूर्ते ॥६८॥

यादृग् निवृत्तिपथगस्य विवेचन स्याद्,
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
स्यात् सयतेर्भयमसयमजीवितेन,
तादृक्कुतो भवति भास्वरभोगभाज ॥६९

देव-प्रकरणम्

हे प्रभो! खिले हुए स्वर्ण-कमलकी सी तथाभूत शोभा कुछ यहाँ दिखलाओ जिससे हम भारतवासी आप जैसे विशालमूर्ति जिनेश्वरदेवके पुनः दर्शन कर सकें। ॥६८॥

धर्मके विषयमें स्वयं निवृत्ति-मार्गपर चलनेवाला जैसा विवेचन कर सकता है, वैसा अन्य नहीं, क्यों कि संयमीको असंयम-जीवनसे जैसा भय होता है, वैसा भोगी मनुष्यको कहाँ होता है? तात्पर्य यह है कि संयमी, उनमें भी जिनेश्वरदेव पूर्णतः निःस्वार्थ होते हैं अतः सच्ची बात कहते हैं और भोगी स्वार्थवश असत्योपदेशी भी हो सकते हैं। ॥६९॥

सौख्यानुभूतिरिह धर्मगणाधिपस्य,
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य।
कार्य्यस्य सम्प्रणयने हि परोपकार
कोऽन्योस्ति धर्मपथदर्शनत प्रकृष्ट ॥७०॥

विरक्ति-प्रकरणम्

झरते हुए मदसे लिप्त कपोलवाले मेरुतुंग नामक हाथीने 'मेरे द्वारा इस खरगोशकी मृत्यु न हो जाय' इस भयसे अपना पैर धरती पर नहीं टेका और तीन पैरों पर खड़ा रहकर घोर कष्ट सहन किया। इस विरक्तिके कारण उसने तिर्यंच भवका उच्छेद किया और मनुष्य भवका बन्धन कर श्रेणिक राजाका पुत्र मेघकुमार हुआ तथा साधुता ग्रहण कर आत्म कल्याणके पथ पर अग्रसर हुआ। ॥७१॥

जो धीर पुरुष जिनेश्वरदेव प्रतिपादित दयाके रसमें भीगे हुए होते हैं और आध्यात्मिक उपकारके लिए अर्थात् किसीके भी आत्म उत्थानमें सहयोग देनेके लिए सदा तत्पर रहते हैं वे विरागी मनुष्य ऐरावत सदृश विशालकाय उन्मत्त हाथीको अपनी ओर झपटता देखकर भी असंयमके मार्ग पर नहीं जाते अर्थात् संयम विरुद्ध आचरण कर अपनी रक्षा नहीं करते, क्योंकि असंयमाचरणसे की गई प्राण रक्षासे संयमाचरणमें होनेवाली मृत्यु सदैव उत्तम है। ॥७२॥

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] प्रथम[illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible],
[illegible] ॥[illegible]॥
[illegible] [illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible],
मन्ये [illegible] [illegible] ॥[illegible]
(कुमार)

दावानलं ज्वलितमुग्रमनल्पकुलिङ्गं,
कः कोऽत्र भो प्रशमयेत् प्रचुरैर्घनैर्वा ।
आभ्यन्तरो विषयभोगनिजृम्भितोऽय-
स्तृष्णाविरागसलिलैः शमतामुपैति ॥७

जिसने अपने धनसे कुबेरको भी नीचा कर दिया और जिसने सौभाग्यशाली मनुष्यों में प्रथम स्थान पाया, जिसके वैभवका और क्या वर्णन किया जाय, इतना कहना ही काफी होगा कि जिसके घरका आंगन मोतियोंसे जड़ा था, वही शालिभद्र विराग प्राप्त होकर, अन्तरात्मा पर विजय पाकर और शीघ्रतासे इस संसारको छोड़कर श्रमण संयमी बना। यह ऐसी घटना थी, मानों हिमरु परिपाटीवाले (मनरूप) सिंहको उसने शस्त्रों की सहायताके बिना ही अपने वशमें कर लिया हो ॥७३ ७४॥

जिसके स्फुलिङ्ग दूर दूर तक उछलते हों, ऐसे प्रज्वलित दावानलको इन्धनसे कौन शान्त कर सकता है? वासनाकी आन्तरिक आग भी विषय सेवनके इन्धनसे नहीं किन्तु विराग रूपी पानीसे ही शान्त होती है। ॥७५॥

पन्थां गुरिर्यैगिरिद्गिम्दगौर्गैष्ठ,
आर्क्रि"ानधर्मिक्रिम्यारर्मीत ।
पःतादृपच गिन्र मीर्टमहानन्दैं,
विन्र जिनिर्मुभिर नमुगराणदा"न ॥४६

गन्धारांसलपि मम विरागन्ड-
मन्द प्रथावं भवनीणनर्वार्गाद्यु ।
आक्रामनि रुमयुगेन निम्गदार,
मात पवित्रपद्वीमहृमौतुर्ईनि ॥७०॥

वह मुनि धन्य है जिसने सारे संसारको विनष्ट कर देनेके लिए उद्यत हुए मोहरूप महा राक्षसको पीछे हटा दिया है—हरा दिया है और अपनी ओजस्विता तथा आत्म-शक्तिसे सारी जनता को चकित कर दशों दिशाओं में विजय दुन्दुभि बजा दी है ॥७६॥

विशुद्ध ज्ञानरूप दीपक और विरागरूप प्रचण्ड दण्ड को धारणकर जो निःसंकोच इस संसाररूप भीषण अटवीका अवगाहन करता है, वह अपने लक्ष्य—मोक्षपदको प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाता है। ॥७७॥

आसत्ति-प्रकरणम्

गौणाभिन्नपदार्थानुभवत्वस्य,
वैशिष्ट्यबोधजनकस्य निरोधकत्वा यद् ।
आकाङ्क्षा समधुर्गेण निरन्तराङ्क-
मासत्तिरिति विनिगद्यते ॥७८

आसक्ति-प्रकरणम्

वैराग्यहीन तथा भोगलालसासे अन्धे हुए मनुष्यके शिरमें यदि स्त्री क्रुद्ध होकर लात भी मारदे तो वह निर्लज्ज होकर उसके पैर पपोलने लगता है। संसारका यह कितना विचित्र और कुत्सित दृश्य है। ॥७८॥

ज्ञान-प्रकरणम्

अज्ञानमात्मनि कृतास्पदमास्थितं यद्,
विश्वापकारकरणप्रवणं स्फुटं तत्।
ज्ञानात् क्षणात् क्षयमुपैति यथान्धकार-
मुद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम् ॥७९॥

ज्ञानं सुशोभयति योग्यतयैव मर्त्यां,
हीनरततोऽप्यपकृतिं कुरुते स्वकीयाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं,
स्वमुमजेत विकृतिं किमु नाल्पशक्तिः ॥८०॥

ज्ञान-प्रकरणम्

जो अज्ञान ससारका अपकार करनेके लिए आत्मामें घर जमाये बैठा है, वह ज्ञानसे क्षण भरमें वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्यकी किरणो से अन्धकार। ॥७६॥

योग्य मनुष्य अपनी योग्यतासे ज्ञानकी शोभा बढ़ाता है और अयोग्य मनुष्य इसी ज्ञानसे कुछ न कुछ अपना बिगाड़ करलेता है। क्यो कि समर्थ आँखें जहां सूर्य किरणो के प्रकाशमे पदार्थो को देख सकती है, वहा निर्बल आँखें क्या चौंधिया नही जाती ? और अधिक विकृत नहीं हो जाती ? ॥८०॥

श्रद्धा-प्रकरणम्

येषा समस्ति नवतत्त्वरुचिर्विशिष्टा,
श्रद्धान्विता सपदि मोहजिघासुनामा ।
युद्धे जय विजितदुर्जयजेयपक्षा,
सम्प्राप्य तेऽक्षयपद ससुख लभन्ते ॥८१

लब्ध्वाऽपि शत्रुपरिपूरितदिग्विभागे,
युद्धे जय विजितदुर्जयजेयपक्षा ।
सद्दर्शनेन रहिता अहितायातास्या,
आत्मारिवर्गविजिता न चिदात्मने स्यु ॥८

श्रद्धा-प्रकरणम्

जिनको नवतत्त्वो को जाननेमें विशेष रुचि है और जो श्रद्धालु हैं, वे मोहशत्रुके साथ होनेवाले युद्धमें दुर्जय शत्रु-पक्षको जीतकर विजय प्राप्त करते हैं और अन्तमें सुख पूर्वक मुक्ति-पद प्राप्त करते हैं। ॥८१॥

जिसमें चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखाई देते हों, ऐसे घोर संग्राममें दुर्जय शत्रुपक्षको जीतकर भी व्यक्ति, यदि सम्यग्दृष्टि नहीं है तो अहितके लिए दरवाजा खोलकर आत्म शत्रुओं से (कर्म रूप शत्रुओंसे) पराजित हो जाता है और ज्ञानके योग्य नहीं रहता ॥८२॥

श्रद्धालवो नहि भयाकुलिताननास्ते,
आस्तिक्यभावभरिता दृढप्रत्ययाश्च ।
लोकाग्रलग्नमनसो यदि चेद् भवाब्धे,
रगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्रा ॥८३॥

सद्देवधर्म गुरुषु प्रणिधाय पूर्णं,
विश्वासमाशु गृहिणोऽपि विभिन्नपोता ।
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ,
नाव्यौ ब्रुडन्ति यदि वार्णककामदेवा ॥८४॥

जो आस्तिकतासे भरे हुए, दृढविश्वासी तथा मुक्तिकी ओर टकटकी लगाये होते हैं, वे महानुभाव कभी नहीं घबराते, चाहे फिर उनकी जीवन-नौका भवसमुद्रकी प्रचण्ड तरंगों पर ही क्यों न गुजर रही हो ॥८३॥

महा मत्स्यों को भी भय पैदा करनेवाली बाड़वाग्नि जिसमें प्रज्वलित हो रही हो, ऐसे महासमुद्रमें जहाज टूट जाने पर भी अर्णक और कामदेव आदिकी तरह वे गृहस्थ उसमें नहीं डरते जो सच्चे देव, धर्म और गुरुमें पूर्ण विश्वास रखते हों ॥८४॥

संयम-प्रकरणम्

सत्सगरगरचिता निचिता नितान्त,
सत्यादिमार्ववदिकसयमिता गुणैर्ये ।
आजन्मशीलसलिलाप्लवपूतगात्रा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपा ॥८५॥

नो येषु सच्चरितसूत्रितसूत्रसन्धि,
नो येषु सयमलवोऽपि रवोऽपि सूक्त ।
ग्राह्य ततोऽस्तु गुणिभि किमु तत्र चेत्तो,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपा ॥८६॥

संयम-प्रकरणम्

जो सत्संगके रंगसे रंगे होते हैं, सत्य आदि नैरन्तरिक संयम से संयमित होते हैं और आजीवन ब्रह्मचर्यरूप पानीमें स्नान कर अपने गात्रको पवित्र करनेवाले होते हैं, वे मनुष्य कामदेवके समान सुरूप हो जाते हैं ॥८५॥

जिन मनुष्यों में सदाचारके लिए बनाये गये नियमों के प्रति आदरभाव नहीं, संयम—इन्द्रिय निग्रहका नाम नहीं, और यहां तक कि बोलनेकी सभ्यता भी नहीं, वे मनुष्य चाहे कामदेव जैसे सुरूप भी क्यों न हों, पर कोई भला आदमी उनके पास जाकर क्या ग्रहण कर सकता है? ॥८६॥

तपः-प्रकरणम्

बाह्यान्तरैरसकृदर्च्यतमस्तपोभि-
श्चैतस्विना भवति सपरितप्त आत्मा।
ज्ञानक्रियायुगलयोगमवाप्य सन्त,
सद्य स्वय विगतबन्धभया भवन्ति ॥८७॥

नानासमृद्धिपरिमेलनमूलकर्म,
सत्याकृति शिवसुखस्य तपोऽनिमित्तम्।
चौरा दृढप्रभृतयोऽपि यत प्रभावात्,
सद्य स्वय विगतबन्धभया भवन्ति ॥८

तपः-प्रकरणम्

परम पवित्र छ प्रकारके आभ्यन्तर तपको करनेसे आत्माको बड़ा कष्ट होता है किन्तु ज्ञानी साधुजन ज्ञान और क्रियाके इस विशिष्ट संयोग द्वारा शीघ्र ही अपने पूर्वकृत कर्म बन्धनों को तोड़-कर निर्बन्धन हो जाते हैं ॥८७॥

दृढ़प्रहारी आदि चोर भी जिसके प्रभावसे कर्मबन्धन मुक्त [illegible]गये, वह तप नाना प्रकारकी समृद्धियोंके लिए साइ है और का[illegible]ण है ॥८८॥

रत्न-त्रय-प्रकरणम्

मोक्षाध्वनीनमनुतिष्ठति शुद्धदृष्टि-
र्ज्ञान प्रदीप इव दीपयतेऽस्य वर्त्म ।
चारित्रमारचयते सद्द्योगमित्य,
तस्याशु नाशमुपयाति भय भियेव ॥८९॥

रत्न-त्रय-प्रकरणम्

जो मोक्ष पथका पथिक होता है, सम्यग्दृष्टि सदैव उसका अनुसरण करती है, दीपककी तरह ज्ञान उसके मार्गको प्रकाशित करता है, चारित्र सदैव उसे सहारा देता है और भय स्वयं भीत होकर उससे दूर भाग जाता है।

मोक्ष-मार्ग-प्रकरणम्

शान्तस्य विस्मृतकषायचतुष्टयस्य,
पक्षीकृताक्षयपदाध्वचतुष्टयस्य ।
शान्ता स्वयं निगडिता निरुपद्रवा स्यु-
र्मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानला हि ॥९०॥

मोक्ष-मार्ग-प्रकरणम्

जो शान्त है, चारों कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) को छोड़नेवाला है और मोक्षके चार मार्गों (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप) कोअङ्गीकार करनेवाला है, उसके सामने उन्मत्त हाथी, सिंह तथा दावानल आदि विघ्न स्वयं शान्त हो जाते हैं, नियन्त्रित हो जाते हैं और कोई उपद्रव नहीं कर पाते।

भगवद्-भारती-प्रकरणम्

वृद्धिर्यत समुपयाति सुभारतेव्व,
ता भार्ती भगवता वदनाद्विवृष्टाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्र,
शुद्धान्तत सृतमलङ्कृतिभि कृताभि ॥९१॥

भगवद्-भारती-प्रकरणम्

जिससे पवित्र आनन्दकी वृद्धि होती है, भगवान्के मुखसे उत्पन्न उस विशुद्ध वाणीको जो अपने कण्ठमें धारण करता है, उसे अन्य अलङ्कारोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। ॥६१॥

सद्गुणरत्नमाला-प्रकरणम्

श्रद्धाक्षमाविनयमार्दवसत्यभक्ति-
सारल्यसाम्यशुचिसद्गुणरत्नमालाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामनन्तं,
तस्यास्पदं भवति भद्रमचिन्त्यमेव ॥९२॥

सद्गुणरत्नमाला-प्रकरणम्

श्रद्धा, क्षमा, विनय, मृदुता, सत्य, भक्ति, सरलता, समता और शुचितारूप परम पवित्र गुणोंकी मालाको जो निरन्तर अपने कण्ठमें धारण करता है, उसका निवास स्थान भी अनिर्वचनीय कल्याणमय बन जाता है। ॥६८॥

स्याद्वाद-प्रकरणम्

(शार्दूलविक्रीडितम्)

स्याद्वादी मम्लाशयोऽनवरत शान्ताग्रहो मोदते,
स्वात्ताकर्षणतत्परस्तदितर प्राप्नोति खिन्ना गतिम्।
तस्य तत्त्वमहो कदाग्रहपरैरात्त क्वचित् किं श्रुत,
चेत्त्व तत्त्वरुचिर्बिभेषि भवत स्याद्वादवाद श्रय ॥१३॥

(शिखरिणी)

गृहीत्वैका रज्जु यदुभयत आकर्षति युग,*
द्विधा स्याच्चेन्मध्यात् पतनमुभयोर्निश्चितमत ।
श्लथांकुर्याच्चैको झगिति निपतेत् कर्षकनर-
स्तथैव स्याद्वादी सततमविवादी विजयते ॥१४॥

---

* नृयुगम

स्याद्वाद-प्रकरणम्

स्याद्वादी कभी आग्रही—हठी नहीं होता, इसलिए वह सरल हृदयवाला होता है और सदा प्रसन्न रहता है तथा जो स्याद्वादी नहीं होता, वह अपनी बात पर अड़नेवाला होता है। जब उसकी बात नहीं मानी जाती तो वह अप्रसन्न होता है और खेद करता है। यदि तुम तत्त्व गवेषक हो और संसार भ्रमणसे मुक्त होना चाहते हो तो स्याद्वादका आश्रय लो, क्यों कि कोई हठी तत्त्व प्राप्त कर सका हो, ऐसी बात क्या कहीं पर सुनी है ? ॥६३॥

एक रस्सीको यदि दो पुरुष दो तरफसे खींचते हों तो रस्सी बीचसे टूट जाती है और दोनों खींचनेवाले गिर जाते हैं, यह जानी सुनी बात है। यदि उनमेंसे एक उस रस्सीको ढीली कर देता है तो वह नहीं गिरता और दूसरा खींचनेवाला गिर जाता है। इसी तत्त्वको समझकर स्याद्वादी विवादमें—खींचतानमें नहीं पड़ता और सदा अविवादी रहकर समवयके द्वारा विजय प्राप्त करता है। ॥६४॥

(मन्दाक्रान्ता)

ह्रस्वौ वर्णौ गुरुरथ मतो युक्तवर्णेऽन्तिकस्थे,
ख्यातो वर्णः स च नहि सुत किं स्ववप्तु समक्षे ।
एको हेतु स्वपरमतयो साधको बाधकश्च,
नानापेक्षापरिचितमतिर्नावमन्येत जैनम् ॥९५॥

(हरिणी)

निखिलभुवनव्याप्त विष्वग् जगद्व्यवहारभृत,
प्रतिदिनकृतौ बालस्त्रीणामहो वदने स्थितम् ।
सममतसमन्वायि स्वान्यप्रदार्शनिकप्रिय,
शिवपुरपथ श्रीस्याद्वादाभिध मतमाश्रय ॥९६॥

जो घर्म द्वार [illegible] है, [illegible] हुए [illegible] आता है, जो रिता है, [illegible] हुआ [illegible] है ? एक [illegible] [illegible] होता है, इस प्रकारका [illegible] है, यह जैन मतका [illegible] ॥ [illegible] ॥

जो ससार मरमें [illegible] हुए [illegible] द्वारका गूढ है, जिसे [illegible] गोपाल कामसें [illegible] है, [illegible] प्रिय है और जो मुक्तिका [illegible] आश्रय है। ॥६६॥

(प्रशस्तिः)

(द्रुतविलम्बितम्)

समितिशून्यवियन्नयनाश्विते,
सुखदसर्वतिसौम्य शरद्गतौ ।
वसुपटाधिपकालुगणेशितु-
र्जननभूमिरिय सुविराजते ॥९७॥
शिक्षापण्णवति श्रन्थितेय शुभाय,
साध्व्यभ्यासाय स्वान्तसम्मोदनाय ।
नवमाचार्येण प्राज्यसपच्छ्रितेन,
भद्र भव्यानामातनोतूच्छ्रितपा ॥९८॥

(युग्मम)

(प्रशस्तिः)

अष्टमाचार्य श्री कालु गणीकी जन्मभूमि छापर चातुर्मासमें साध्वियोंका संस्कृत अभ्यास बढ़ानेके लिए तथा आत्म-तुष्टिके लिए साधु साध्वी श्रावक-श्राविका रूप विशिष्ट सम्पत्तिके अधिनायक नवमाचार्य श्री तुलसी गणीने इस शिक्षा षण्णवतिकी विक्रम संवत् २००५ शरद् ऋतुमें रचना की, यह सदा भव्य प्राणियोंको कल्याणदायिनी हो। ॥९७ ९८॥

स्वकर्तव्यमकर्तव्य, विदन्ति नहि ये जना ।
यदा कदाप्यनिष्ट स्या-दिह तेषामतर्कितम् ॥१॥

कृत्याकृत्यमजानाना, पशूयन्ते नरा अपि ।
कृत्याकृत्यविवेको हि, नृपश्वोरन्तर विदु ॥२॥

विहाय सकल कार्यं, कार्य्यं कर्तव्य-निर्णय ।
सर्वत प्राग् मनुष्येण, साधुभिस्तु विशेषत ॥३॥

जो मनुष्य अपने कर्तव्य तथा अकर्तव्यको नहीं पहचानते, उनका किसी भी समयमें ऐसा अनिष्ट हो सकता है, जिसकी उन्होंने कभी कल्पना भी न की हो। ॥१॥

जो मनुष्य अपने कर्तव्य तथा अकर्तव्य नहीं जानते, वे मनुष्य होते हुए भी पशु सदृश ही हैं, क्योंकि कृत्याकृत्यका विवेक ही मनुष्य और पशुके बीचकी भेद रेखा है। ॥२॥

अन्य सब कार्य छोड़कर पहले पहल मनुष्यको अपने कर्तव्य का ही निर्णय करना चाहिये। इनमें भी साधुओं—साधना करनेवालों को तो विशेषरूपसे इस तरफ ध्यान देना चाहिए। ॥३॥

साधो साधुत्वसंरक्षा, कर्तव्यं प्रथमं मतम् ।
तत्र क्षम्या क्षतिर्न स्याद्, मनागपि मनस्विन ॥४॥

पदे पदे क्षतिं कुर्यात्, साधुत्वव्यपदेशभाक् ।
ततस्तस्य कृते किं स्याल्लज्जास्पदमतोऽधिकम् ॥५॥

दद्याच्छिक्षां यथान्यस्मै, तथैवाचरणं निजम् ।
केवलेनोपदेशेन, निश्चितं वाग्विडम्बना ॥६॥

शास्त्रीया साम्प्रदायिक्यो, मर्यादा निर्मिता मता ।
तास्ता प्राणाधिका मत्वा, वर्तितव्यं सदा बुधै ॥७॥

अपनी साधुताकी रक्षा करना प्रत्येक साधुका प्रथम कर्तव्य है। यदि इसमे किसी प्रकारकी कोई छोटी सी भी त्रुटि होती है तो वह भी क्षम्य नहीं मानी जाती, फिर चाहे वह त्रुटि किसी विद्वान् साधुसे ही क्यो न की गई हो। ॥४॥

साधु कहलानेवाला पुरुष भी यदि पग पग पर त्रुटि करता रहे तो उसके लिए इससे अधिक और कौन सी बात लज्जाजनक हो सकती है। ॥५॥

जैसी शिक्षा दूसरेको देते हो, पहले उसीके अनुरूप तुम स्वय आचरण करो। यदि ऐसा न करके केवल उपदेश ही देते रहे तो निश्चित समझो कि उससे 'वाग्विडंबना' के अतिरिक्त और कुछ होनेका नही है, अर्थात् तुम्हारा यह कोरा उपदेश देना तो थूक उछालनेके समान निरर्थक होगा। उसका किसी पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ सकेगा। ॥६॥

सभ्य पुरुषको शास्त्र निर्मित तथा स्वनिर्मित मर्यादाओंका

कुर्यात्तु च्छत्वबुद्धिं यो, मर्यादाया महामद
तुच्छत्वं प्राप्नुयाल्लोके, सोऽतिशीघ्र समन्तत ॥८॥

गणोऽयमहमेवास्मि—अहमेव गणोऽस्त्ययम् ।
ऐक्य ममास्य चान्योन्य, श्चिन्तनीयमिति ध्रुवम॥९॥

शिरोरत्नमिवार्याज्ञा, धारयन्त स्वमस्तके ।
निर्मान्तु निखिलकार्यम -आचार्याज्ञानुवर्तिन ॥१०॥

यस्योपरि यदा यत्र, यादृग् दृष्टिर्गणेशितु ।
तस्योपरि तदा तत्र, तादृग् दृष्टिर्भवेत् सताम ॥११॥

जो अभिमानी मर्यादाओं को तुच्छ समझकर उनकी अवहेलना करता है, वह स्वयं ही अविशीघ्र तुच्छ बन जाता है—लोकदृष्टिसे गिर जाता है। ॥८॥

यह सारा गण—सब मेरे लिए और मैं सारे गणके लिए हूं। मेरा और गणका परस्पर अविच्छिन्न मेल है, बार बार यही बात सोचनी चाहिए। ॥९॥

आचार्यकी आज्ञा को मुकुटकी तरह अपने सिरपर धारते हुए और उस आज्ञाके अनुगामी रहते हुए ही तुम अपना प्रत्येक कार्य करो। ॥१०॥

गणपति—संघपतिकी जिस व्यक्तिके प्रति जब जहां जैसी दृष्टि होती है, उस व्यक्तिके प्रति सब वहां वैसी ही दृष्टि प्रत्येक विचारशील व्यक्तिकी होनी चाहिए। ॥११॥

गुरोर्दृष्टिमनुदृष्टिरिङ्गितं चेङ्गितं तथा ।
विचारोऽनुविचारः स्याच्छिष्याणां दुर्गुणद्विषाम्
चित्तवृत्तिमनुस्वीया, चित्तवृत्तिर्मतिस्तथा ।
श्रीवीरप्रभुणा प्रोक्तम्—आचाराङ्गे विलोक्यताम्
॥१२-१३॥ (युग्मम्)

अप्रसन्नो गुरुर्भूयात्, किञ्चित् कारणमाश्रयन् ।
प्रसन्नीकुरुतां शिष्यो, नम्रवाक्यनिवेदनात् ॥१४॥

विनेयो निजसर्वस्वं मन्यते सर्वदा गुरुम् ।
आराधयेत यथा वह्निम्-आहिताग्निः कृताञ्जलिः ॥१५॥

पृष्टो गुरुभिराहूतो, निर्दिष्टोऽभीष्टकर्मणि ।
मन्वानो भागधेयं स्वं, धन्यं धन्यस्तथाचरेत् ॥१६॥

श्री महावीर स्वामीने आचारांग सूत्रमें कहा है कि दुर्गुणों से दूर रहनेवाले विनयी शिष्यकी दृष्टि, इङ्गित, विचार, चित्तवृत्ति और बुद्धि सदैव गुरुकी दृष्टि, इङ्गित, विचार, चित्तवृत्ति और बुद्धिका अनुगमन करनेवाली ही होती है। ॥१२॥१३॥

किसी कारणवश यदि गुरु अप्रसन्न हो जाए तो शिष्यको चाहिए कि जिन कारणोंसे वे अप्रसन्न हुए हों, उन्हें दूर करता हुआ नम्र वचनोंसे पुनः प्रसन्न करे। ॥१४॥

विनयी शिष्य सर्वदा गुरुको ही अपना सर्वस्व मानता है। अतः जैसे अग्निहोत्री (अग्निको इष्ट माननेवाला) अग्निकी उपासना करता है, वैसे ही वह हाथ जोडकर गुरुकी आराधना करता है। ॥१५॥

यदि शिष्यको गुरु कोई बात पूछे या कार्यवश अपने पास बुलाए अथवा किसी आवश्यक कार्यको करनेका आदेश दे तो शिष्य अपना परम सौभाग्य समझता हुआ सहर्ष निर्दिष्ट कार्यमें प्रवृत्त हो। ॥१६॥

वाटस्वरेण यत्रेष्ट नल्पन वाढमाल्येत ।
मन्दस्याने तथा मन्द, वर्तेताज्ञा यथा गुरो ॥१७॥

सूचना सकृदाकर्ण्य न द्विस्त्रि श्रोतुमापतेत् ।
सपादयेत्तथा कार्यं यया स्याद् विनयश्रुति ॥१८॥

काये मनसि, वास्येवा, प्रच्छन्ने प्रकटेऽपिवा ।
न मनागपि मालिन्यमाचार्येस्तनुते सुधी ॥१९॥

उपालम्भे प्रशसाया, चेतोवृत्ति सदा सहक् ।
निरत साधनामार्गे, निर्वाण साधयेद् द्रुतम् ॥२०॥

जहां जोरसे बोलना अभीष्ट हो, वहां जोरसे और जहां धीरे बोलना अभीष्ट हो, वहां धीरे बोले अर्थात् गोप्य—रहस्यभूत बातको निकटस्थ अन्य व्यक्ति सुन सके, ऐसा जोरसे और प्रकाश्य बातको कोई सुनभी न पाये, ऐसा धीरेसे न कहे। इस प्रकार बोलनेमें विवेकसे काम लेता हुआ गुरुकी आज्ञाका अनुवर्तन करे। ॥१७॥

जिस कार्यके लिये गुरुने एकबार कह दिया हो, उसीके लिए दूसरी, तीसरी बार कहना पड़े, ऐसा अवसर न आने दे। केवल एकबारके कथनसे ही उस कार्यको तत्काल इस प्रकारसे करे जिससे कि विनयकी परिपाटी अक्षुण्ण बनी रहे। ॥१८॥

बुद्धिमान् शिष्य प्रच्छन्न रूपसे या प्रकट रूपसे मन, वचन तथा कायामें आचार्यके प्रति तनिक भी मलिनता न आने दे। ॥१९॥

उपालम्भ तथा प्रशंसाके विषयमें अपनी चित्तवृत्तिको सदा समान रक्खे, अर्थात् उपालम्भसे खिन्न और प्रशंसासे प्रफुल्ल न हो। इस प्रकार नितान्त साधनामें तत्पर रहता हुआ शीघ्रतामें मुक्ति प्राप्त करे। ॥२०॥

गुरावाक्य प्रतीक्षेत, मनन्यामोदमादधत् ।
मुक्ताहार इवाकण्ठे, स्थापयेत् तत्समादरात् ॥२१॥

पठने पाठने चैव, लेखने प्रतिलेखने ।
शिक्षणे वीक्षणे स्थाने, सारो स्यात् सावधानता ॥२२॥

सर्वव्रतशिरोरत्न, ब्रह्मचर्यमुदीरितम् ।
वृत्तिभिर्नवभिस्तस्य, कार्या रक्षा महात्मभि ॥२३॥

भ्रूविक्षेपमनौचित्याद्, न सृजेदात्मयन्त्रित ।
लोके हास्य गृहे हानि —येन भूयादचिन्तिता ॥२४॥

प्रसन्नचेता होकर गुरुके शिक्षामय वचनकी प्रतीक्षा टाहमें लगा रहे। जब कभी गुरु कोई बात कहे तो उसे, जिस प्रकार मोतियो के हारको गलेमें उत्कण्ठा पूर्वक स्थान दिया जाता है, उसी प्रकार अपने हृदयमे सादर स्थापित करे। ॥२१॥

पढ़नेमे, पढ़ानेमें, लिखनेमे प्रतिलेखन (पडिलेहण) में, सीखनेमे, देखनेमे और चढनेमे प्रयत्नता पूर्व सावधान रहना चाहिए। ॥२२॥

ब्रह्मचर्यको सब व्रतोका शिरोमणि माना गया है अत मुनियो को नव वाड़से, उसकी सतत रक्षा करना चाहिए। ॥२३॥

अपनी आत्माको नियन्त्रणमें रखते हुए ब्रह्मचारीको कभी अनुचित विकार युक्त दृष्टिपात भी नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे अकल्पनीय अनर्थ पैदा होता है तथा 'घरमे हानि और लोकमें हसी' होती है। ॥२४॥

पृष्टे वा यदि वापृष्टे, दृष्टेऽदृष्टेऽपिकर्मणि ।
प्राणात्ययेऽपि ना ब्रूयाद्, मृषा सत्यव्रतो मुनि ॥२५॥

धर्मोपकरणेऽपीत्थ, न ममत्व समाचरेत् ।
न हिंस्यात् प्राणिन प्राणान्, नादत्तमाददीत यत् ॥२६

रत्नाधिका भवेयुर्ये, सर्वदा विनयोचिता ।
विनय नातिवर्तेत, तेषामग्रे महामति ॥२७॥

एते सन्ति लघीयान्सस्तर्जनीया क्षणे क्षणे ।
नेति निर्घृणता कार्या स्वात्मसाधनतत्परै ॥२८॥

मुनि सत्यव्रती होता है अतः किसी देखी हुई तथा नहीं देखी हुई घटनाके विषयमें किसीके द्वारा पूछे जानेपर तथा न पूछे जाने पर स्वयं प्राणों का भय होने पर भी किसी प्रकारकी झूठ न बोले। ॥२५॥

संयमके साधनभूत वस्त्र, पात्र, रजोहरण प्रमुख उपकरणों पर ममता न रक्खे, किसी प्राणीकी हिंसा न करे और न किसी प्रकारका अदत्त ग्रहण करे। ॥२६॥

जो रत्नाधिक (पूर्व दीक्षित) साधु होते हैं, वे सदा विनयके अधिकारी होते हैं अतः विचारशील साधु अपने गुरुजनोंके सामने विनयकी परिपाटीका उल्लंघन न करे। ॥२७॥

'यह तो मेरेसे छोटे हैं अतः इनको किसी भी समय सिखानेका मुझे अधिकार है', इसप्रकारकी औचित्यहीन प्रवृत्ति आत्म-साधनामें तत्पर रहनेवाले साधुको कभी नहीं करनी चाहिए

कीदृग् प्रकृतिरेतस्य पश्यैष कुरुते कथम् ।
एतयोरेव्यमात्मिन्न धिगेष नहि लज्जते ॥२९॥३०॥
इत्ययालोचना त्यक्त्वा परेषा स्वात्मदर्शिभि ।
स्वदोषा दर्शनीया स्युर्येन स्यान्निर्वृतिर्हृदि ॥

लभेरन्नापद दीर्घां, परदोषं दिदृक्षव ।
स्वात्मदर्शी सुखी सद्यो, वीर-वाणी श्रुति श्रुता ॥३१

शीघ्रं सद्धर्मसघस्य, प्रचार पृथ्वीतले ।
कथ भूयादिति ध्यायेत् सर्वदा स्वधिया सुधि ॥३२॥

सोढव्या शक्तिमत्त्वेन, द्वाविंशति परीषहा ।
कातरा कष्टवेलाया, भ्रश्यन्ति सयमाद भृशम ॥३३॥

इसका स्वभाव कितना निकृष्ट है, देखो वह कैसे कर रहा है, ये दोनों मिले हुए हैं, इनको धिक्कार है, जो इतना होने पर भी लज्जा नहीं आती। इस प्रकार दूसरोंकी आलोचना करना छोड़ कर आत्मदर्शीको अपने आत्मगत दोषोंकी ओर ध्यान देना चाहिए, जिससे कि हृदयमें सुख मिलनेका सचार हो।।२८-२९।।३०।।

भगवान महावीरने कहा है कि जो सदा दूसरोंके दोष देखा करते हैं, वे भयंकर दुःखोंको प्राप्त होते हैं और जो अपने दोष देखा करते हैं, वे सुखों को प्राप्त होते हैं। ।।३१।।

बुद्धिमान्को दूसरोंके दोषोंको देखनेका ध्यान छोड़कर इस ओर ध्यान देना चाहिए कि 'इस भूतल पर सच्चे धर्मका प्रचार शीघ्रातिशीघ्र कैसे किया जा सकता है।' ।।३२।।

संयम वयमें उत्पन्न होनेवाले २२ परीषहों २२ प्रकारके विशेष कष्टों को शक्तिशाली बनकर सहे। वे कायर होते हैं जो कष्ट पड़नेपर संयमसे भ्रष्ट हो जाते हैं। ।।३३।।

हृद्दार्ढ्यं रक्षनीय भा, भीतिमुक्तार्य भावत ।
नितिन्याययुते मार्गे, सदा चेत प्रसन्नता ॥३४॥

अध्यात्मचिन्ता सुचिर विधेया,
कदापि हेया न, विमाक्षवीथि ।
गेया गुरा सद्गुणगीतिरेव,
ध्येया कृति सद्विपणाधनेन ॥३५॥

कचित् कलाया न मदो विधेयो,
न दम्भचर्या नच दोषवृद्धि ।
कृतातिचारस्य विशुद्धिरागु,
कार्या-विकार्या न विचरवृत्ति ॥३६॥

साधूना सुविवेकपूरितदृशा साध्वीसमाजस्य च,
किं ध्येय मतत विचाररुचिर चादेमत्सारित किम् ।
हेय ज्ञेयमथेति सगमयितु चकाह्निकीय कृता,
सद्बोधा वदनाङ्कजेन गणिना कर्तव्य-षट्त्रिंशिका

कष्टों के भयको दूर हटाकर हृदयमें दृढ़ता धारण करो और नीति तथा न्यायकी बातमें चाहे वह अपनसे विरुद्ध जानेवाली भी क्यों न हो, अप्रसन्न न होकर सदा प्रसन्न हो रहो। ॥३४॥

निरन्तर अध्यात्म चिन्तन करते रहो।
मोक्ष मार्गको छोड़कर कभी भटको मत।
गुरुजनों के सद्गुण याद करते रहो।
और अपने कार्योंको पैनी दृष्टिसे देखते रहो।

अपनेमें कोई कला या गुण हो तो उसका अहङ्कार मत करो। कपटसे दूर रहो। दोष-वृद्धिको रोकनेमें सचेष्ट रहो। भूलसे किये गये दोषकी शीघ्र ही दण्ड लेकर विशुद्धि करते रहो और चित्तवृत्तिको कभी विकारकी ओर मत झुकने दो। ॥३६॥

विवेकी साधुओं तथा साध्वियों के सन्मुख भली प्रकारसे परखा हुआ क्या ध्येय होना चाहिए तथा उनके लिये आदेय, हेय ज्ञेय (ग्रहण करने योग्य, छोड़ने योग्य, और जानने योग्य) क्या होना चाहिए, यही बतानेके लिए मदना पुत्र तुलसा गणान एक दिनमें यह सम्यग् ज्ञान देनेवाली 'कर्तव्य पथप्रदर्शिका' बनाई॥३७॥

इतिशम्

शीघ्र प्रकाशन—

* धर्मबोध भाग ३ (प्रेसमें)
* जैन सिद्धान्त दीपिका ”
* कालूकौमुदी (संस्कृत-व्याकरण) ”
* जनवाणी (प्रथम किरण)
* जनवाणी (द्वितीय किरण)
* आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी
* ज्ञान कण, आदि ।